

कविता

अँधेरे में शब्द
ओमप्रकाश वाल्मीकि

रात गहरी और काली है
अकालग्रस्त त्रासदी जैसी

जहां हजारों शब्द दफन हैं
इतने गहरे
कि उनकी सिसकियाँ भी
सुनाई नहीं देतीं

समय के चक्रवात से भयभीत होकर
मृत शब्द को पुनर्जीवित करने की
तमाम कोशिशें
हो जाएँगी नाकाम
जिसे नहीं पहचान पाएगी
समय की आवाज भी

ऊँची आवाज में मुनादी करने वाले भी
अब चुप हो गए हैं
'गोद में बच्चा
गाँव में ढिंढोरा'
मुहावरा भी अब
अर्थ खो चुका है

पुरानी पड़ गई है
ढोल की धमक भी

पर्वत कन्दराओं की भीत पर
उकेरे शब्द भी
अब सिर्फ

रेखाएँ भर हैं

जिन्हें चिह्नित करना
तुम्हारे लिए वैसा ही है
जैसा 'काला अक्षर भैंस बराबर'
भयभीत शब्द ने मरने से पहले
किया था आर्तनाद
जिसे न तुम सुन सके
न तुम्हारा व्याकरण ही

कविता में अब कोई
ऐसा छन्द नहीं है
जो बयान कर सके
दहकते शब्द की तपिश

बस, कुछ उच्छवास हैं
जो शब्दों के अंधेरों से
निकल कर आए हैं
शून्यता पाटने के लिए !

बिटिया का बस्ता घर से निकल रहा था
दफ्तर के लिए
सीढ़ियां उतरते हुए लगा
जैसे पीछे से किसी ने पुकारा
आवाज परिचित आत्मीयता से भरी हुई
जैसे बरसों बाद सुनी ऐसी आवाज
कंधे पर स्पर्श का आभास

मुड़ कर देखा
कोई नहीं
एक स्मृति भर थी

सुबह-सुबह दफ्तर जाने से पहले
जैसे कोई स्वप्न रह गया अधूरा
आगे बढ़ा
स्कूटर स्टार्ट करने के लिए
कान में जैसे फिर से कोई फुसफुसाया

अधूरी किताब का आखिरी पन्ना लिखने पर
 पूर्णता का अहसास
 जैसे पिता की हिलती मूँछें
 जैसे एक नए काम की शुरुआत
 नया दिन पा जाने की विकलता

रात की खौफनाक, डरावनी प्रतिध्वनियों
 और खिड़की से छन कर आती पीली रोशनी से
 मुक्ति की थरथराहट
 भीतर कराहते
 कुछ शब्द
 बचे-खुचे हौसले
 कुछ होने या न होने के बीच
 दरकता विश्वास

कितना फर्क है होने
 या न होने में

सब कुछ अविश्वसनीय-सा
 जोड़-तोड़ के बीच
 उछल-कूद की आतुरता
 तेज, तीखी प्रतिध्वनि में
 चीखती हताशा

भाषा अपनी
 फिर भी लगती है पराई-सी
 विस्मृत सदियों-सी कातरता
 अवसादों में लिपटी हुई

लगा जैसे एक भीड़ है
 आस-पास, बेदखल होती बदहवास
 चारों ओर जलते घरों से उठता धुआँ
 जलते दरवाजे, खिड़कियाँ
 फर्ज, अलमारी
 बिटिया का बस्ता
 जिसे सहेजकर रखती थी करीने से
 एक-एक चीज

पेंसिल, कटर, और रबर
काँपी, किताब
हेयर-पिन, फ्रेंडशिप बैंड

बस्ता नहीं एक दुनिया थी उसकी
जिसमें झांकने या खंगालने का हक
नहीं था किसी को

जल रहा है सब कुछ धुआँ-धुआँ
बिटिया सो नहीं रही है
अजनबी घर में
जहाँ नहीं है उसका बस्ता
गोहाना की चिरायंध
फैली है हवा में
जहाँ आततायी भाँज रहे हैं
लाठी, सरिये, गंड़ासे,
पटाखों की लड़ियाँ
दियासलाई की तिल्ली
और जलती आग में झुलसता भविष्य

गर्व भरे अट्टहास में
पंचायती फरमान
बारूदी विस्फोट की तरह
फटते गैस सिलेंडर
लूटपाट और बरजोरी

तमाशबीन
शहर
पुलिस
संसद
खामोश
कानून
किताब
और
धर्म

कान में कोई फुसफुसाया -

सावधान, जले मकानों की राख में
चिनगारी अभी जिन्दा है !



[शीर्ष पर जाएँ](#)

कविता

कविता और फसल
ओमप्रकाश वाल्मीकि

ठंडे कमरों में बैठकर
पसीने पर लिखना कविता
ठीक वैसा ही है
जैसे राजधानी में उगाना फसल
कोरे कागजों पर

फसल हो या कविता
पसीने की पहचान है दोनों ही

बिना पसीने की फसल
या कविता
बेमानी है
आदमी के विरुद्ध
आदमी का षडयंत्र-
अंधे गहरे समंदर सरीखा
जिसकी तलहटी में
असंख्य हाथ
नाखूनों को तेज कर रहे हैं
पोंछ रहे हैं उंगलियों पर लगे
ताजा रक्त के धब्बे

धब्बे : जिनका स्वर नहीं पहुंचता
वातानुकूलित कमरों तक
और न ही पहुंच पाती है
कविता ही
जो सुना सके पसीने का महाकाव्य
जिसे हरिया लिखता है

चिलचिलाती दुपहर में
धरती के सीने पर
फसल की शकल में



[शीर्ष पर जाएँ](#)

[डाउनलोड](#)

[मुद्रण](#)

[अ+](#) [अ-](#)

कविता

चोट
ओमप्रकाश वाल्मीकि

पथरीली चट्टान पर
हथौड़े की चोट
चिनगारी को जन्म देती है
जो गाहे-बगाहे आग बन जाती है

आग में तपकर
लोहा नर्म पड़ जाता है
ढल जाता है
मनचाहे आकार में
हथौड़े की चोट में

एक तुम हो,
जिस पर किसी चोट का
असर नहीं होता



[शीर्ष पर जाएँ](#)

[डाउनलोड](#)

[मुद्रण](#)

[अ+](#) [अ-](#)

कविता

ठाकुर का कुआँ
ओमप्रकाश वाल्मीकि

चूल्हा मिट्टी का
मिट्टी तालाब की
तालाब ठाकुर का

भूख रोटी की
रोटी बाजरे की
बाजरा खेत का
खेत ठाकुर का

बैल ठाकुर का
हल ठाकुर का
हल की मूठ पर हथेली अपनी
फसल ठाकुर की

कुआँ ठाकुर का
पानी ठाकुर का
खेत-खलिहान ठाकुर के
गली-मुहल्ले ठाकुर के
फिर अपना क्या?
गांव?
शहर?
देश?



[शीर्ष पर जाएँ](#)

कविता

तब तुम क्या करोगे
ओमप्रकाश वाल्मीकि

यदि तुम्हें ,
धकेलकर गांव से बाहर कर दिया जाय
पानी तक न लेने दिया जाय कुएं से
दुत्कारा फटकारा जाय चिल-चिलाती दोपहर में
कहा जाय तोड़ने को पत्थर
काम के बदले
दिया जाय खाने को जूठन
तब तुम क्या करोगे ?

**

यदि तुम्हें ,
मरे जानवर को खींचकर
ले जाने के लिए कहा जाय
और
कहा जाय ढोने को
पूरे परिवार का मैला
पहनने को दी जाय उतरन
तब तुम क्या करोगे ?

**

यदि तुम्हें ,
पुस्तकों से दूर रखा जाय
जाने नहीं दिया जाय
विद्या मंदिर की चौखट तक

ढिबरी की मंद रोशनी में
काली पुती दीवारों पर
ईसा की तरह टांग दिया जाय
तब तुम क्या करोगे ?

**

यदि तुम्हें ,
रहने को दिया जाय
फूस का कच्चा घर
वक्त-बे-वक्त फूंक कर जिसे
स्वाहा कर दिया जाय
बर्षा की रातों में
घुटने-घुटने पानी में
सोने को कहा जाय
तब तुम क्या करोगे ?

**

यदि तुम्हें ,
नदी के तेज बहाव में
उल्टा बहना पड़े
दर्द का दरवाजा खोलकर
भूख से जूझना पड़े
भेजना पड़े नई नवेली दुल्हन को
पहली रात ठाकुर की हवेली
तब तुम क्या करोगे ?

**

यदि तुम्हें ,
अपने ही देश में नकार दिया जाय
मानकर बंधुआ

छीन लिए जायं अधिकार सभी
जला दी जाय समूची सभ्यता तुम्हारी
नोच-नोच कर
फैंक दिए जाएं
गौरव में इतिहास के पृष्ठ तुम्हारे
तब तुम क्या करोगे ?

**

यदि तुम्हें ,
वोट डालने से रोका जाय
कर दिया जाय लहू-लुहान
पीट-पीट कर लोकतंत्र के नाम पर
याद दिलाया जाय जाति का ओछापन
दुर्गन्ध भरा हो जीवन
हाथ में पड़ गये हों छाले
फिर भी कहा जाय
खोदो नदी नाले
तब तुम क्या करोगे ?

**

यदि तुम्हें ,
सरे आम बेइज्जत किया जाय
छीन ली जाय संपत्ति तुम्हारी
धर्म के नाम पर
कहा जाय बनने को देवदासी
तुम्हारी स्त्रियों को
कराई जाय उनसे वेश्यावृत्ति
तब तुम क्या करोगे ?

**

साफ सुथरा रंग तुम्हारा
झुलस कर सांवला पड़ जायेगा
खो जायेगा आंखों का सलोनापन

तब तुम कागज पर
नहीं लिख पाओगे
सत्यम् , शिवम्, सुन्दरम्!
देवी-देवताओं के वंशज तुम
हो जाओगे लूले लंगड़े और अपाहिज
जो जीना पड़ जाय युगों-युगों तक
मेरी तरह ?
तब तुम क्या करोगे



[शीर्ष पर जाएँ](#)

कविता

पहाड़
ओमप्रकाश वाल्मीकि

पहाड़ खड़ा है
स्थिर सिर उठाए
जिसे देखता हूँ हर रोज
आत्मीयता से

बारिश में नहाया
या फिर सर्द रातों की रिमझिम के बाद
बर्फ से ढका पहाड़
सुकून देता है

लेकिन जब पहाड़ थरथराता है
मेरे भीतर भी
जैसे बिखरने लगता है
न खत्म होने वाली आड़ी-तिरछी
ऊँची-नीची पगडंडियों का सिलसिला

गहरी खाइयों का डरावना अँधेरा
उतर जाता है मेरी साँसों में

पहाड़ जब धंसकता है
टूटता मैं भी हूँ
मेरी रातों के अंधेरे और घने हो जाते हैं

जब पहाड़ पर नहीं गिरती बर्फ
रह जाता हूँ प्यासा जलविहीन मैं
सूखी नदियों का दर्द
टीसने लगता है मेरे सीने में

यह अलग बात है
 इतने वर्षों के साथ हैं
 फिर भी मैं गैर हूँ
 अनचिन्हे प्रवासी-पक्षी की तरह
 जो बार-बार लौट कर आता है
 बसेरे की तलाश में

मेरे भीतर कुनमुनाती चींटियों का शोर
 खो जाता है भीड़ में
 प्रश्नों के उगते जंगल में

फिर भी ओ मेरे पहाड़ !
 तुम्हारी हर कटान पर कटता हूँ मैं
 टूटता-बिखरता हूँ
 जिसे देख पाना
 भले ही मुश्किल है तुम्हारे लिए
 लेकिन
 मेरी भाषा में तुम शामिल हो
 पारदर्शी शब्द बनकर

मेरा विश्वास है
 तुम्हारी तमाम कोशिशों के बाद भी
 शब्द जिन्दा रहेंगे
 समय की सीढ़ियों पर
 अपने पांव के निशान
 गोदने के लिए
 बदल देने के लिए
 हवाओं का रुख

स्वर्णमंडित सिंहासन पर
 आध्यात्मिक प्रवचनों में
 या फिर संसद के गलियारों में
 अखबारों की बदलती प्रतिबद्धताओं में
 टीवी और सिनेमा की कल्पनाओं में
 कसमसाता शब्द
 जब आएगा बाहर
 मुक्त होकर

सुनाई पड़ेंगे असंख्य धमाके
विखण्डित होकर
फिर-फिर जुड़ने के

बंद कमरों में भले ही
न सुनाई पड़े
शब्द के चारों ओर कसी
सांकल के टूटने की आवाज़

खेत-खलिहान
कच्चे घर
बाढ़ में डूबती फसलें
आत्महत्या करते किसान
उत्पीड़ित जनों की सिसकियों में
फिर भी शब्द की चीख
गूंजती रहती है हर वक्त
गहरी नींद में सोए
अलसाए भी जाग जाते हैं
जब शब्द आग बनकर
उतरता है उनकी सांसों में

मौज-मस्ती में डूबे लोग
सहम जाते हैं

थके-हारे मजदूरों की फुसफुसाहटों में
बामन की दुत्कार सहते
दो घूंट पानी के लिए मिन्नतें करते
पीड़ित जनों की आह में
जिन्दा रहते हैं शब्द
जो कभी नहीं मरते
खड़े रहते हैं
सच को सच कहने के लिए

क्योंकि,
शब्द कभी झूठ नहीं बोलते!

[शीर्ष पर जाएँ](#)

कविता

युग चेतना
ओमप्रकाश वाल्मीकि

मैंने दुःख झेले
सहे कष्ट पीढ़ी-दर-पीढ़ी इतने
फिर भी देख नहीं पाये तुम
मेरे उत्पीड़न को
इसलिए युग समूचा
लगता है पाखंडी मुझको

इतिहास यहां नकली है
मर्यादाएं सब झूठी
हत्यारों की रक्त रंजित उंगलियों पर
जैसे चमक रही
सोने की नग जड़ी अंगूठियां

कितने सवाल खड़े हैं
कितनों के दोगे तुम उत्तर
मैं शोषित, पीड़ित हूं
अंत नहीं मेरी पीड़ा का
जब तक तुम बैठे हो
काले नाग बने फन फैलाए
मेरी संपत्ति पर

मैं खटता खेतों में
फिर भी भूखा हूं
निर्माता मैं महलों का
फिर भी निष्कासित हूं
प्रताड़ित हूं

इठलाते हो बलशाली बनकर

तुम मेरी शक्ति पर
फिर भी मैं दीन-हीन जर्जर हूँ
इसलिए युग समूचा
लगता है पाखंडी मुझको



[शीर्ष पर जाएँ](#)

कविता

शंबूक का कटा सिर
ओमप्रकाश वाल्मीकि

जब भी मैंने
किसी घने वृक्ष की छांव में बैठकर
घड़ी भर सुस्ता लेना चाहा
मेरे कानों में
भयानक चीत्कारें गूंजने लगीं
जैसे हर एक टहनी पर
लटकी हों लाखों लार्शें
जमीन पर पड़ा हो शंबूक का कटा सिर
मैं, उठकर भागना चाहता हूं
शंबूक का सिर मेरा रास्ता रोक लेता है
चीख-चीखकर कहता है-
युगों-युगों से पेड़ पर लटका हूं
बार-बार राम ने मेरी हत्या की है

मेरे शब्द पंख कटे पक्षी की तरह
तडप उठते हैं-
तुम अकेले नहीं मारे गए तपस्वी
यहां तो हर रोज मारे जाते हैं असंख्य लोग;
जिनकी सिसकियां घुटकर रह जाती हैं
अंधरे की काली पर्तों में

यहां गली-गली में
राम है
शंबूक है
द्रोण है
एकलव्य है
फिर भी सब खामोश हैं

कहीं कुछ है
जो बंद कमरों से उठते क्रंदन को
बाहर नहीं आने देता
कर देता है
रक्त से सनी उंगलियों की महिमा मंडित

शंबूक, तुम्हारा रक्त जमीन के अंदर
समा गया है जो किसी भी दिन
फूटकर बाहर आएगा
ज्वालामुखी बनकर!



[शीर्ष पर जाएँ](#)

कविता

सदियों का संताप
ओमप्रकाश वाल्मीकि

दोस्तो,
बिता दिए हमने हजारों वर्ष
इस इंतजार में
कि भयानक त्रासदी का युग
अधबनी इमारत के मलबे में
दबा दिया जाएगा किसी दिन
जहरीले पंजों समेत
फिर हम सब
एक जगह खड़े होकर
हथेलियों पर उतार सकेंगे
एक-एक सूर्य
जो हमारी रक्त शिराओं में
हजारों परमाणु क्षमताओं की ऊर्जा
समाहित करके
धरती को अभिशाप से मुक्त कराएगा!

इसीलिए, हमने अपनी समूची घृणा को
पारदर्शी पत्तों में लपेटकर
ठूठे वृक्ष की नंगी टहनियों पर
टांग दिया है
ताकि आने वाले समय में
ताजे लहू से महकती सड़कों पर
नंगे पांव दौड़ते
सख्त चेहरों वाले सांवले बच्चे
देख सकें
कर सकें प्यार
दुश्मनों के बच्चों से

अतीत की गहनतम पीड़ा को भूलकर

हमने अपनी उंगलियों के किनारों पर

दुःस्वप्न की आंच को

असंख्य बार सहा है

ताजा चुभी फांस की तरह

और अपने ही घरों में

संकीर्ण पतली गलियों में

कुनमुनाती गंदगी से

टखनों तक सने पांव में

सुना है

दहाड़ती आवाजों को

किसी चीख की मानिंद

जो हमारे हृदय से

मस्तिष्क तक का सफर तय करने में

थक कर सो गई है

दोस्तो,

इस चीख को जगाकर पूछो

कि अभी और कितने दिन

इसी तरह गुमसुम रहकर

सदियों का संताप सहना है



[शीर्ष पर जाएँ](#)